जैन दर्शन का मनोविज्ञान : मन और लेश्या के सन्दर्भ में

–डॉक्टर राजीव प्रचंडिया, एडवोकेट
(एम. ए. (संस्कृत), बी-एस. सी., एल-एल. बी., पी-एच. डी.)

जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जहाँ मनोविज्ञान की आज अपेक्षा न हो। इसका मूल कारण है कि विकार-तनाव अर्थात् त्रासमय प्राणी का मन अस्थिर-अस्पष्ट होने के फलस्वरूप वह अनेक आपदाओं-विपदाओं से ग्रसित-व्यथित है, अस्तु उसके जीवन की प्रत्येक क्रिया-प्रक्रिया और प्रतिक्रिया में असन्तोष और भय परिलक्षित है, आवेग-आक्रोश समाविष्ट है। मन के विज्ञान-तन्त्र पर जब मनन-चिन्तन किया जाता है तो अनगिनत समस्याओं से सम्पृक्त वही व्यक्ति निश्चय ही अपने को इन समस्याओं से अलग-थलग पाता है। वास्तव में जो विज्ञान अर्थात् विशिष्ट ज्ञान आदर्शवादिता से परे यथार्थता से अनुप्राणित जीव के चेतन अथवा अचेतन मन के समस्त व्यवहारों-क्रियाओं का सम्यक् अध्ययन- विश्लेषण अर्थात् उसके रूप-स्वरूप का उद्‌घाटन करने में सक्षम हो वही वस्तुतः मनोविज्ञान है। जैनमनोविज्ञान किसी प्रयोगशालायी निकष पर नहीं अपितु आगम-मनीषियों/ध्यान-योगियों की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि पर अवस्थित है।

प्रस्तुत आलेख में 'जैन दर्शन का मनोविज्ञान : मन और लेश्या के सन्दर्भ में' नामक सामयिक एवं परम उपयोगी-व्यापक विषय पर संक्षिप्त चर्चा करना हमारा मूलाभिप्रेत है।

दृष्ट और अदृष्ट इन द्वय क्रियाओं में व्यक्ति का जीवन संचरण होता है। दृष्ट क्रियाओं का सीधा सम्बन्ध मन की चैतन्य अवस्था से रहा करता है जबकि अदृष्ट क्रियाएँ मन की अचेतन अवस्था के परिणामस्वरूप हैं। मनुष्य की ये समस्त क्रियाएँ उसकी मनोवृत्तियाँ कहलाती हैं। जैनदर्शन में मनोवृत्ति के मुख्यतः तीन रूप बताए गए हैं–

१. ज्ञान २. वेदना ३. क्रिया।

इन तीनों का ही एक दूसरे से शाश्वत तथा प्रगाढ़ सम्बन्ध है क्योंकि जो कुछ ज्ञान जीव को होता है, उसके साथ-साथ वेदना और क्रियात्मक भाव भी स्थिर होने लगते हैं। प्रत्यक्षीकरण, संवेदन, स्मरण, कल्पना और विचार संवेदन नामक मनोवृत्तियाँ ज्ञान रूपी मनोवृत्ति, सन्देश उत्साह स्थायी भाव और भावना नामक मनोवृत्तियाँ, वेदना तथा सहज क्रिया, मूलवृत्ति, स्वभाव, इच्छित क्रिया, चारित्र नामक मनोवृत्तियाँ, क्रिया मनोवृत्ति के अन्तर्गत आती हैं। इन त्रय मनोवृत्तियों के पल्लवन-विकसन से प्राणी का अन्तर्मन प्रबल होता है और संकल्प शक्ति स्थिर रहती है।

जैनदर्शन अध्यात्म अर्थात् आत्मवादी दर्शन है। यहाँ आत्मा के अस्तित्व, उसके स्वरूप-अवस्थादि पर गहराई के साथ चिन्तन किया गया है। जैनदर्शन में आत्मा को अनन्त ज्ञान-दर्शन मय माना गया है।[१] इसके अमूर्त्तिक अर्थात् वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श आदि मूर्त्ति का अभाव होने के कारण साक्षात् दर्शन-उपलब्धि हेतु जीव को 'इन्द्रियों' का अवलम्बन अपेक्षित रहता है। वास्तव में इन्द्रियाँ आत्मा के अस्तित्त्व की परिचायक हैं तथा आत्मा के द्वारा होने वाले संवेदन का साधन भी। इन्द्रियाँ पाँच भागों में विभक्त हैं–

१. श्रोत्र इन्द्रिय २. चक्षु इन्द्रिय
३. घ्राण इन्द्रिय ४. रसना इन्द्रिय
५. स्पर्शन इन्द्रिय।[२]

ये पाँचों इन्द्रयाँ दो-दो प्रकार की होती हैं–

१. द्रव्येन्द्रिय २. भावेन्द्रिय[३]

इन्द्रियों की आंगिक संरचना अर्थात् इन्द्रियों का बाह्य पौद्‌गलिक रूप द्रव्येन्द्रिय तथा आन्तरिक क्रियाशक्ति अर्थात् आन्तरिक चिन्मय रूप भावेन्द्रिय कहलाती है। जैनाचार्यों ने इनके पुनः भेद-प्रभेद किए हैं। द्रव्येन्द्रिय 'निवृत्ति' और 'उपकरण' तथा भावेन्द्रिय लब्धि और उपयोग दो भागों में प्रभेदित हैं।[४] उपर्युक्त पाँच इन्द्रियों में से चार इन्द्रियाँ अर्थात् श्रोत्र, घ्राण, रसना और स्पर्शन प्राप्यकारी तथा चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी होती हैं।[५] इसका मूल कारण है कि ये चारों इन्द्रियाँ बाह्य पदार्थों के अर्थात् अपने-अपने विषय के संसर्ग से उत्तेजित होकर अपने ग्राह्य विषय को ग्रहण करती हैं किन्तु चक्षु इन्द्रिय संसर्ग की अपेक्षा प्रकाश एवं रंगादि के माध्यम से ही संवेदन करती है। इन्द्रियों के भेद-प्रभेदों के उपरान्त यह जानना भी आवश्यक हो जाता है कि इन इन्द्रियों के क्या-क्या विषय-व्यापार हैं? श्रोत्रेन्द्रिय का विषय 'शब्द' है।[६] शब्द तीन प्रकार के हैं–

१. जीव का शब्द २. अजीव का शब्द
३. मिश्र शब्द।

कुछ विचारक शब्द के सात प्रकार मानते हैं। वास्तव में शब्द एक प्रकार के पुद्‌गल परमाणुओं का कार्य है जिसके परमाणु सम्पूर्ण लोक में सदा व्याप्त रहते हैं।[७] चक्षु इन्द्रिय का विषय रंग-रूप है। मुख्यतः पाँच प्रकार के रंग होते हैं–काला-नीला-पीला-लाल-श्वेत। इन पाँचों के सम्मिश्रण से अन्य शेष रंग प्रकट होते हैं। तृतीय इन्द्रिय है घ्राणेन्द्रिय, जिसका व्यापार नासिका द्वारा गन्ध प्राप्त कराना है। गन्ध दो प्रकार की होती हैं– सुगन्ध और दुर्गन्ध। रसनेन्द्रिय का विषय है रसास्वादन। अम्ल, लवण, कषैला, कटु, और तीक्ष्ण ये पाँच प्रकार के रस होते हैं। स्पर्शानुभूति में स्पर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रिय निमित्त होती है। स्पर्श का अनुभव आठ प्रकार से किया जाता है–उष्ण, शीत, रूक्ष, चिकना, हल्का, भारी, कर्कश, कोमल। इस प्रकार इन पाँचों इन्द्रियों की सहायता से जीव उपर्युक्त विषयों का निरन्तर सेवन करता हुआ उनमें सदा प्रमत्त रहता है। इसलिए साधक को शब्द, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श इन पाँचों प्रकार के इन्द्रिय विषयों को सदा-सदा के लिए त्यागने का निर्देश दिया गया है।[८] इन्द्रियाँ जब अनुकूल विषयों में एक बार नहीं अनेक बार आकृष्ट होती हैं, उनमें रमण करती हैं तब जीव अपने को सुखी मानकर भ्रमित होता है किन्तु इसकी विपरीत स्थिति में वही जीव अपने को दुःखी समझता है अर्थात् जो इन्द्रियों को अनुकूल लगता है वह तो सुखद और जो प्रतिकूल है वह दुःखद होता है।[९] इन्द्रियों के अनुकूल विषयों की पुनः प्राप्ति की प्रवृत्ति जो 'इच्छा' कहलाती है[१०], आसक्ति या राग का रूप ग्रहण करती है और इसकी विपरीत स्थिति घृणा या द्वेष को धारण करती है।[११] इन राग-द्वेषात्मक भावों–वृत्तियों से आत्म तत्त्व का वास्तविक स्वरूप अर्थात् समत्व रूप सदा प्रच्छन्न रहता है।

आत्मा के संवेदन का दूसरा साधन है मन। वह आत्म तत्त्व के उत्कर्ष-अपकर्ष का प्रधान कारण बनता है। यह मन, इन्द्रिय नहीं अपितु अनिन्द्रिय अथवा नोइन्द्रिय कहलाता है।[१२] इन्द्रियाँ मात्र अपने-अपने विषयों में ही संश्लिष्ट रहती हैं जबकि मन सर्वार्थग्राहक होता है अर्थात् वह मूर्त्त-अमूर्त समस्त पदार्थों में प्रवृत्ति करता है। इन्द्रियों की भाँति इसके विषय-क्षेत्र की कोई मर्यादा-सीमा नहीं होती है। मन का विश्लेषण करते हुए जैनधर्म में मन को दो रूपों में विभक्त किया गया–

१. पौद्‌गलिक अर्थात् द्रव्यमन

२. चैतन्यमन अर्थात् भावमन[१३]

मनोवर्गणा के पुद्‌गलों से विनिर्मित तत्त्व विशेष द्रव्यमन तथा आत्मतत्त्व की चिन्तन-मनन रूप शक्ति वस्तुतः भाव मन कहलाता है। ये दोनों ही मन अपने चिन्तन का कार्य सम्पादित करते हैं। जैनदर्शन में मन के आधार पर ही प्राणी को दो भागों में विभाजित किया गया है–

१. अमनस्क प्राणी अर्थात् असंज्ञी

२. समनस्क प्राणी अर्थात् संज्ञी[१४]

समनस्क-अमनस्क प्राणी के रूप-स्वरूप का अध्ययन करने पर यह सहज ही कहा जा सकता है कि जिनमें ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिंता और विमर्श करने की शक्ति-सामर्थ्य होती है वे जीव, संज्ञी अर्थात् समनस्क और जिनमें इनका अभाव होता है, वे वस्तुतः असंज्ञी अर्थात् अमनस्क की कोटि में परिगणित हैं। जैनागमानुसार एक इन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रियों तक के जीव अमनस्क तथा पंचेन्द्रिय जीव कोई-कोई समनस्क और कोई-कोई अमनस्क भी होते हैं। यह निश्चित है कि भाव मन आत्मा की ही एक शक्ति होने के कारण इन सभी प्राणियों में सदा विद्यमान रहता है किन्तु द्रव्य मन के अभाव में इसका उपयोग नहीं हो पाता है। मन जिन-जिन विषयों में प्रमत्त रहता है, वासनाएँ उतने ही रूपों में प्रकट-प्रबल होती जाती हैं। निश्चितरूपेण मन के अप्रमत्त अर्थात् जाग्रत रहने पर ही वासनाएँ क्षीण एवं समाप्त हो जाती हैं।

मन की जो शुभाशुभ प्रवृत्ति अर्थात् रागद्वेषात्मक भाव हैं, वे बन्धन के मूल कारण माने गए हैं। वास्तव में मुक्ति और बन्धन का सम्बन्ध प्राणी के मन से ही रहता है। मन के समस्त क्रिया-कलाप/व्यापार को समझ लेने पर प्राणी मुक्ति पथ पर अग्रसर होता है। अन्यथा इन्द्रियों और मन के विषयों में आसक्त प्राणी जन्म-मरण के चक्र में फँसकर विषयासक्ति से अवश, दीन, लज्जित और करुणा जनक स्थिति को प्राप्त करता हैं।[१५]

जैनदर्शन में मन की चार अवस्थाएँ निरूपित हैं–

१. विक्षिप्त मन   २. यातायात मन

३. श्लिष्ट मन   ४. सुलील मन[१६]

पहली अवस्था मन की विषयासक्त तथा संकल्प-विकल्प युक्त विक्षुब्ध अवस्था है। यह प्रमत्तता की अवस्था भी कहलाती है। मन की द्वितीय अवस्था में मन कभी अन्तर्मुखी तो कभी बहिर्मुख की ओर प्रेरित होता है। मन की यह प्रमत्ताप्रमत्त अवस्था है। तृतीय अवस्था चित्त की अप्रमत्त अवस्था है। इसमें चित्त पूर्णरूप से विषयों से रहित तो नहीं होता किन्तु अशुभ भावों का पूर्ण समापन होता है। यह साधक की आनन्दमय अवस्था होती है। चतुर्थ अवस्था तक आते-आते साधक की समस्त चित्तवृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। साधक शुभ-अशुभ भावों से ऊपर उठकर स्वयं शुद्ध-ज्ञाता-दृष्टामय हो जाता है। साधक की यह परमानन्द या समाधि की अवस्था होती है। इस प्रकार जीव के विकास-ह्रास में मन का योगदान, उसकी भूमिका कितनी महत्त्वपूर्ण है, यह प्रत्यक्ष परिलक्षित है। मनोनिग्रह से उपर्युक्त पाँचों इन्द्रियाँ तो वशीभूत हो ही जाती हैं विषय-वासनाओं का भी उन्मूलन होता है, चंचलता भी नष्ट होती है और आत्मा के वास्तविक स्वरूप का उद्‌घाटन भी होता है।[१७]

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से जैनधर्म में 'लेश्या' का जो तल स्पर्शी विवेचन-विश्लेषण है, वह वस्तुतः अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। लेश्या-विचार में मानसिक वृत्तियों के वर्णों का, मन के विचारों का तथा उनके उद्‌गमस्थलादि का अध्ययन किया जाता है।

'लेश्या' जैनदर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। आत्मतत्व जिसके सहयोग से कर्म-कुल से आवरित है, जैनागम में वस्तुतः वह लेश्या कहलाती है। साधारणतया लेश्या का अर्थ है मनोवृत्ति, विचार या तरंग किन्तु जैनाचार्यों ने कर्माश्लेष के कारणभूत शुभाशुभ परिणामों को ही लेश्या कहा है। उत्तराध्ययन की वृहत् वृत्ति में लेश्या का अर्थ आणविक आभा, कान्ति, प्रभा और छाया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के रूप में किया गया है।[१८] मूलाराधना में लेश्या के विषय में बताया गया है कि लेश्या छाया पुद्गलों से प्रभावित होने वाले जीव परिणाम हैं।[१९] धवला में स्पष्ट वर्णन है कि आत्मा और कर्म का सम्बन्ध कराने वाली प्रवृत्ति लेश्या है।[२०] सर्वार्थ-सिद्धि में कषायों के उदय से अनुरञ्जित मन, वचन व काय की प्रवृत्ति को लेश्या कहा है।[२१] इस प्रकार जैनागम में लेश्या की अनेक परिभाषाएँ स्थिर हुई हैं।

जीव के मन में जिस प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार के वर्ण तथा तदनुरूप पुद्गल परमाणु उसकी आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं। शुभ-अशुभ विचारों के आधार पर ही जैन दर्शन में लेश्याएँ छहः भागों में विभक्त हैं–

१. कृष्णलेश्या २. नील लेश्या
३. कापोत लेश्या ४. तेजो लेश्या
५. पद्म लेश्या ६. शुक्ल लेश्या[२२]

कृष्णलेश्या वाले जीव की मनोवृत्ति निकृष्टतम होती है। उसके विचार अत्यन्त कठोर, नृशंस, क्रूर एवं रुद्र होते हैं। विवेक विचार से रहित भोग-विलास में ही वह अपना जीवन यापन करता है।[२३] नील लेश्या की कोटि में परिगणित जीव स्वार्थी होते हैं। उनमें ईर्ष्या, कदाग्रह, अविद्या, निर्लज्जता, द्वेष, प्रमाद, रस लोलुपता, प्रकृति की क्षुद्रता और बिना विचारे कार्य करने की प्रवृत्ति होती है।[२४] किन्तु इस लेश्या वाले जीव की दशा कृष्णलेश्या वाले जीव की अपेक्षा श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें जीव के विचार अपेक्षाकृत कुछ प्रशस्त होते हैं। कापोत लेश्यायी जीव की वाणी व आचरण में वक्रता होती है। वह अपने दुर्गुणों को प्रच्छन्न कर सद्गुणों को प्रकट करता है किन्तु नील लेश्यायी से उसके भाव कुछ अधिक विशुद्ध होते हैं।[२५] तेजोलेश्या वाला जीव पवित्र, नम्र, दयालु, विनीत, इन्द्रियजयी तथा आत्मसाधना की आकांक्षा रखने वाला तथा अपने सुख की अपेक्षा दूसरों के प्रति उदारमना होता है।[२६] पद्मलेश्या वाले जीव की मनोवृत्ति धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान में विचरण करती है। इस कोटि का जीव संयमी, कषायों से विरक्त, मितभाषी, जितेन्द्रिय तथा सौम्य होता है।[२७] शुक्ल लेश्या वाला जीव समदर्शी, निर्विकल्प ध्यानी, प्रशान्त अन्तःकरण वाला, समिति-गुप्ति से युक्त, अशुभ प्रवृत्ति से दूर तथा वीतरागमय होता है।[२८]

उपर्युक्त विवेचनोपरान्त यह सहज में ही जाना जा सकता है कि इन भावों-विचारों का रंगों के साथ और रंगों का प्राणी जीवन के साथ कितना गहरा सम्बन्ध है? रंग हमारे शरीर तथा मानसिक विचारों को किस प्रकार प्रभावित करते हैं? जैन शास्त्रों में लेश्या के सिद्धान्त द्वारा इसी प्रभाव की व्याख्या की गई है। रंगों में काला रंग मानवीय जीवन में असंयम, हिंसा और क्रूरता; नीलारंग, ईर्ष्या, असहिष्णुता, रसलोलुपता तथा आसक्ति, और कापोत रंग, वक्रता, कुटिलता, दृष्टिकोण का विपर्यास उत्पन्न कराते हैं। इस प्रकार कृष्ण, नील और कापोत ये तीन रंग मनुष्य के विचारों पर बुरा प्रभाव डालने के कारण अशुद्ध हैं तथा इन रंगों से प्रभावित होने वाली लेश्याएँ भी अशुभ-अप्रशस्त कोटि की मानी जाने के कारण इन्हें अधर्म लेश्याएँ कहा गया है[२९] अतः ये सर्वथा त्याज्य हैं। अरुण रंग मनुष्य में ऋजुता, नम्रता और धर्म प्रेम उत्पन्न करता है, पीला रंग मनुष्य में शान्ति, क्रोध-मान-माया-लोभ की अल्पता तथा इन्द्रिय-विजय का भाव उत्पन्न करता है तथा श्वेत रंग मनुष्य में अथाह शान्ति तथा जितेन्द्रियता का भाव उत्पन्न करता है। इस प्रकार तेजस्, पद्म और शुक्ल ये तीन वर्ण शुभ हैं क्योंकि ये मनुष्य के विचारों पर अच्छा प्रभाव डालते हैं। अतः ये सदा उपादेय हैं।[३०] इनसे प्रभावित होने वाली लेश्याएँ भी प्रशस्त कोटि की मानी गयी हैं जिन्हें धर्म लेश्या कहा गया है। निश्चय ही लेश्याओं के ज्ञान-विज्ञान को जान-समझकर प्रत्येक संसारी जीव अपने मन के विचारों को पवित्र शुद्ध करता हुआ अर्थात् अशुभ से शुभ और शुभ से प्रशस्त शुभ की ओर उन्मुख होता हुआ अपना आध्यात्मिक विकास कर सकता है।

आत्म तत्त्व को कलुषित करने वाली मनोवृत्तियाँ 'कषाय' से संज्ञायित हैं। लेश्या की भाँति कषाय भी आत्मा के यथार्थ स्वरूप को प्रच्छन्न–आच्छन्न करने में एक प्रभावी भूमिका का निर्वाह करते हैं। मन के विज्ञान का अध्ययन-अनुशीलन करते समय काषायिक वृत्तियों को समझ लेना बी परम आवश्यक है। जैनदर्शन में इन वृत्तियों को मूलतः चार भागों में विभाजित किया गया है–

१. क्रोध २. मान
३. माया ४. लोभ।

मनोविज्ञान कहता है कि क्रोध के वशीभूत जीव अपने विवेक, विचार-क्षमता तथा तर्कणाशक्ति को विनष्ट कर देता है। क्रोध एक मानसिक किन्तु उत्तेजक संवेग है। क्रोधावेश में शरीर में विभिन्न प्रकार के परिवर्तनों को देखा-परखा जा सकता है। उदाहरणार्थ रक्तचाप का बढ़ना, हृदयगति में अस्थिरता, मस्तिष्क के ज्ञान तन्तुओं का शून्य होना आदि। क्रोध की अनेक अवस्थाएँ होती हैं। जो उत्तेजन एवं आवेश के कारण उत्पन्न होकर भयंकर स्थिति धारण करती हैं। जैनागम में क्रोध के दश रूप निर्दिष्ट किए गए हैं यथा–क्रोध, कोप, रोष, दोष, अक्षमा, संज्वलन, कलह, चाण्डिक्य, भण्डन तथा विवाद।[३१] दूसरी कलुषित वृत्ति (मान कषाय) में भी उत्तेजन-आवेश विद्यमान रहता है। इसमें कुल-बल-ऐश्वर्य-बुद्धि-जाति, ज्ञानादि के अहंकार का समावेश रहता है। मान कषाय की अवस्थाओं का वर्णन करते हुए जैन संहित्य में बारह प्रकार के मान को निरूपित किया गया है यथा–मान, मद, दर्प, स्तम्भ, गर्व, अत्युत्क्रोश, परपरिवाद, उत्कर्ष, अपकर्ष, उन्नत, उन्नत नाम तथा दुर्नाम।[३२] तीसरी मनोवृत्ति है माया अर्थात् कपट। जैनागम में माया की पन्द्रह अवस्थाएँ गिनायी गयी हैं। जिनमें संश्लिष्ट जीव अपने आर्जवत्व गुण से सदा प्रच्छन्न रहता है। ये अवस्थाएँ निम्न हैं–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माया, उपाधि, निकृति, वलय, गहन, नूम, कल्क, कुरुप, जिहमता, किल्विषिक, आदरबता, गूहनता, वंचकता, प्रतिकुंचनता तथा सातियोग।[२३] चौथी मनोवृति तृष्णा अर्थात् लोभ-लालसा है। इसकी सोलह अवस्थाएँ हैं–लोभ, इच्छा, मूर्च्छा, कांक्षा, गृद्धि, तेष्णा, मिथ्या, अभिध्या, आशंसना, प्रार्थना, लालपनता, कामाशा, भोगाशा, जीविताशा, मरणाशा तथा नन्दिराग।[२४]

उन वृत्तियों की तीव्रता-मन्दता तथा स्थायित्व को देखते हुए जैनागम में ये वृत्तियाँ चार-चार भागों में विभक्त हैं–अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी तथा संज्वलन।[२५] इन वृत्तियों में लीन व्यक्ति संसार चक्र के चक्रमण में भ्रमण करता है। नरक गति से देवगति तक की यात्रा तो करता है किन्तु इस यात्रा से बन्धन से मुक्त नहीं हो पाता। क्योंकि ये मनोवृत्तियाँ आत्मा में व्याप्त अनन्त चतुष्टय को, लेश्याओं की सहायता से, अष्टकर्मों के मजबूत वेस्टन से आवरित करने में परम सहायक हैं। वास्तव में ये काषायिक वृत्तियाँ प्रेम-प्रीति, विनय, मित्रता तथा अन्य समस्त सद्‌गुणों, मानवीय गुणों को नष्ट करने में सदा प्रवृत्त रहती हैं।[२६] अतः इनसे छूटना ही श्रेयस्कर है।

उपर्यंकित मन के विज्ञान का विवेचन-विश्लेषण से निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि जैनदर्शन में व्यवहत सिद्धान्त-नीति- आचारादि पक्ष के माध्यम से कोई भी प्राणी अपने मन को प्रभावित करता हुआ आत्मा का विकास कर सकता है। यह दर्शन जीव के मन की चेतन-अवचेतनअचेतन तीनों अवस्थाओं को सुंस्कारित-परिष्कृत करने में सर्वदा सक्षम है। इसके सिद्धान्तों में ऐसी विद्युत शक्ति है जिसका सम्यक् ज्ञान तथा आचरण करने से व्यक्ति का अन्तर्द्वन्द्व शान्त होता है। नैतिक भावनाएँ तो प्रस्फुटित होती ही हैं साथ ही कुत्सित भावनाओं असंख्यात वासनाओं का भस्म भी होना होता है। तदनन्तर प्राणी का मार्ग भी प्रशस्त अर्थात् मंगलमय होता है। आज अपेक्षा है मन और लेश्याओं के माध्यम से अन्तरंग में प्रतिष्ठित अनन्त शक्तियों के जागरण की जिससे स्व-पर का कल्याण हो सके। वास्तव में जैनदर्शन का मनोविज्ञान जिसमें मन और लेश्या की भूमिकाएँ विशेषेन अनिर्वचनीय हैं, समस्त प्राणवंत जीवों के लिए परम उपयोगी एवं कल्याणप्रद है।

पता : मंगल कलश
३९४, सर्वोदय नगर
आगरा रोड, अलीगढ़-२०२००१

सन्दर्भ स्थल

१. जे आया से विन्नाया .... पडिसंखाए। —*आचारांग सूत्र, १/५/५/१*
२. (क) नन्दी सूत्र, सूत्र ३०,
(ख) स्थानाङ्ग सूत्र, स्था. ५
३. प्रज्ञापना सूत्र, इन्द्रिय पद १५वाँ,
४. प्रज्ञापना सूत्र, इन्द्रिय पद १५वाँ
५. तत्त्वार्थ सूत्र, १/१९
६. प्रज्ञापना सूत्र, इन्द्रिय पद, १/१९
७. प्रज्ञापना सूत्र, भाषापद, १/१९
८. सद्दे-रूवे य गन्धे य, रसे फासे तहेव य।
पंचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए॥ —*उत्तराध्ययन सूत्र, १६/१०*
९. सव्वे सुहसाया दुक्ख पडिकूला। —*आचारांग सूत्र, १/२/३*
१०. इन्द्रिय मनोनुकूलायाम्प्रवृत्तो, लाभस्यार्थस्याभिलाषातिरेके।
—*राजेन्द्र अभिधान, खण्ड २, पृष्ठ ५७५*
११. रागस्सहेउ समणुन्नमाहु दोसस्स हेउं अमणुन्नमाह।
—*उत्तराध्ययन सूत्र, ३२/२३*
१२. सर्वार्थसिद्धि, १/१४/१०९/३
१३. मनः द्विविधः द्रव्यमनः भावमनः च। —*सर्वार्थसिद्धि, २/११/१७०/३*
१४. नन्दी सूत्र, सूत्र ४०
१५. तओ से जायंति–वइस्से। —*उत्तराध्ययन सूत्र, ३२/१०५/१२/१०३*
१६. योगशास्त्र, आचार्य हेमचन्द्र
१७. उत्तराध्ययनसूत्र, अध्याय २३, गाथा ३६
१८ लेशयति-श्लेषयतीवात्मनि जननयना नीति लेश्या-अतीव चक्षुराक्षेपि का स्निग्ध दीप्त रूपछाया। —*बृहद्वृत्ति, पत्र ६५०*
१९ मूलाराधना, ६/१९०६
२०. धवला, दिग्बराचार्य, वीरसेन, ७, २, १ सूत्र ३, पृष्ठ ७
२१. (क) सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपाद आचार्य, २/६
(ख) तत्त्वार्थराजवार्तिक, आचार्य अकलंक, २/६/८, पृष्ठ १०९
२२. सा षड्विधा–कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोत लेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या शुक्ललेश्या चेति।
—*सर्वार्थसिद्धि, अ. २, सूत्र ६, पृष्ठ १५९*
२३. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्याय ३४, गाथांक २१, २२
२४. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्याय ३४, गाथाङ्क २३, २४
२५. वही, गाथांक, २५, २६
२६. वही, गाथांक, २७, २८
२७. वही, गाथांक, २९, ३०
२८. वही, गाथांक, ३१, ३२
२९. वही, अध्याय ३४, गाथांक, ५६
३०. वही, अध्याय ३४, गाथांक, ५७
३१. भगवती सूत्र, शतक १२, उ. ५, पा. २
३२. भगवती सूत्र, शतक १२, उ. ५, पाठ ३
३३. वही, पाठ ४
३४. वही पाठ ५,
३५. (क) धवला, ६/१, ९-२, २३/४१/३
(ख) द्रव्यसंग्रह, टीका, ३०/६९/७
(ग) वारस अणुवेक्खा, गाथांक ४९
३६. दशवैकालिक सूत्र, अध्याय ८, गाथाङ्क, ३८-३९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org